आर्हत्–धर्म एवं श्रमण–संस्कृति

मुनि विद्यानन्द

वर्तमान विश्व में विविध धर्म प्रचलित हैं और उनमें विविध रूपता है। प्राचीन काल में तीर्थंकर आदिनाथ [वृषभदेव] के समय में भी उनके श्रमण मुनि बनने के बाद ३६३ मत-धर्मों का उल्लेख पाया जाता है। इससे पूर्व जब यहाँ भोगभूमि थी किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय और वर्ण का प्रचलन नहीं था। इससे पूर्व भूतकालीन २४ तीर्थंकरों ने धर्म प्रचार किया[1]। यह परम्परा अनादिकालीन रही और तत्-तत् समय में तत्कालीन तीर्थंकरों से प्रवाहित होती रही। तीर्थंकरों द्वारा प्रवाहित यह धर्म आर्हत्–धर्म कहलाया जाता रहा। क्योंकि अनादिकाल से सम्भूत सभी तीर्थंकर 'अर्हन्त' हुए और इस पद की प्राप्ति के पश्चात् ही इस धर्म का उपदेश दिया। अर्हन्तों द्वारा उपदिष्ट और अर्हन्तावस्था की उपलब्धि करानेवाला होने से यह धर्म 'आर्हत–धर्म' कहलाया।

शब्द–शास्त्र [व्याकरण] के अनुसार अर्हत्, अर्हन् और अरहंत शब्दों की व्युत्पत्ति = 'अर्ह' धातु से 'अर्हः प्रशंसायाम्' सूत्र से शतृ प्रत्यय होने से हुई है। जब इसमें 'उगिदचां नुम् सर्वनाम स्थाने धातोः' से नुम् हुआ तब अर्हन्त—अरहंत बना। अरहंत अवस्था संसार में सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। यह अवस्था सिद्ध अवस्था से पूर्व की अवस्था है और मुक्ति का द्वार है। अरहंत शब्द का अस्तित्व वैदिक, सनातन और बौद्ध साहित्यों में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। लोक मान्यता के अनुसार यदि वेदों का साहित्य प्राचीनतम माना जाता है, तो उस प्राचीनतम साहित्य में भी अर्हत् शब्द का उल्लेख पाया जाता है। इस मान्यतानुसार भी आर्हत् धर्म प्राचीनतम सिद्ध है। हम यहाँ कुछ उद्धरण उपस्थित कर रहे हैं, जिन से पाठकों को सहज जानकारी हो सकेगी।

[१] 'अर्हन् विमर्षि सायकानि, धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्बं, न वा ओ जीयोरुद्रत्वदन्यदस्ति॥'

ऋग्वेद २।३३।१०

---

१. 'पणमहु चउवीसजिणे तित्थयरे तत्थ भरहखेत्तम्मि।
भव्वाणं भवरुक्खं छिंदंते णाणपरसूहिं॥'

—तिलोयपण्णत्ती ४।५१४

—भरतक्षेत्र संबंधी चौबीस जिन तीर्थंकरों को मैं वन्दन करता हूँ। ये तीर्थंकर अपने ज्ञानरूपी फरसे से भव्यों के संसार रूप वृक्ष को काटते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[२] '**अर्हन्ता** चित्पुरोदधेंऽशेव देवावर्वते ।'
—ऋग्वेद ६।८६।५

[३] '**अर्हता**मनुरूपाणां नादेयं ह्यस्ति किंचन ।'
—महाभारत, शान्तिपर्व २२६।१५

[४] '**आर्हत** ।'—वायुपुराण १०४।१६

[५] '**आर्हत** ।'—योगवासिष्ठ ९६।५०

[६] 'देवोऽर्हन्परमेश्वरः ।'—योगशास्त्र २।४; '**अर्हतां** देवः ।'
—वाराहमिहिर संहिता ४५।५८

[७] '**अर्हन्नित्यथ** जैनशासनरताः ।'—हनुमन्नाटक १।३

[८] '**स्यादर्हन्** जिनपूज्ययोः ।'—शाश्वतकोष ६४१

[९] 'यत्था**रहन्तो** विहरन्ति तं भूमिं रामणेय्यकं ।'—धम्मपद ९८।९

[१०] '**अरहतानं** ।'—खंडगिरि उदयगिरि अभिलेख, ईसापूर्व द्वितीय शती । (जैन)

उक्त सभी उद्धरण जैनेतर सामग्री में उपलब्ध हैं । एतावता अर्हन्तों की प्राचीनता सहज सिद्ध है । धम्मपद के उल्लेख से तो यह भी स्पष्ट होता है कि जहाँ भी अरहंत विहार करते हैं वहां की भूमि रमणीय हो जाती है—जैसा कि जैन शास्त्रों में वर्णन आता है—'षट् ऋतु के फूल फले अपार ।'—आदि केवल ज्ञान और अरहन्त पद सहभावी हैं । क्यों कि चार घातियां [ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय] कर्मों के अस्तित्वाभाव में केवलज्ञान होता है और केवलज्ञानी में अरहन्त व्यपदेश होता है । अरहन्त परमेष्ठी [परमपद में स्थित] कहलाते हैं—इनका आत्मा स्वगुणों के पूर्ण विकास को पा लेता है । इनके उपदेश से जन-जन के कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है और इनका उपदेश ही वास्तविक धर्म [संसार दुख से छुडानेवाला] होता है । अतः अविनाशी पद-मोक्ष में पहुँचाने में समर्थ धर्म 'आर्हत-धर्म' कहलाने की श्रेणी में आता है । संसारी जीवों के कल्याण की दृष्टि से अरहन्त पद सर्वोपकारी है । अतः आर्हत धर्म संबंधी अनादि मूल मंत्र में अरहंतों का स्मरण [नमन] प्रथम किया गया है । इस धर्म का मूल मंत्र परमेष्ठी वाचक कहलाता है । और सर्व पापों के नाश करने में वह समर्थ है और सर्व मंगलों में प्रथम मंगल है[1] । मंत्र इस प्रकार है—

णमो अरहंताणं	= अरहंतों को नमस्कार हो
णमो सिद्धाणं	= सिद्धों को नमस्कार हो
णमो आइरियाणं	= आचार्यों को नमस्कार हो

१. 'एसो पंच णमायारो सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढ़मं हवइ मंगलं ॥'—मूलाचार ७ । १८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णमो उवज्झायाणं = उपाध्यायों को नमस्कार हो
णमो लोए सव्वसाहूणं = लोक में सर्व साधुओं [श्रमण मुनियों] को नमस्कार हो ।

प्रकारान्तर से यदि विशेष विवेचन किया जाय तो जैसे यह मूल मंत्र नमस्कारात्मक है वैसे ही आर्हत धर्म का प्रतिपादक भी है । उक्त पांचों परमेष्ठी का स्वरूप समझना, आर्हत धर्म के सिद्धान्तों को समझना है । और इसीलिये हम कह सकते हैं उक्त मूल मंत्र 'श्रमण संस्कृति' का आधार और 'श्रमण संस्कृति' मूल मंत्र का आधार है । चूँकि एक अनादि सिद्ध है, प्राचीन सिद्ध है तो दूसरा भी अनादि और प्राचीन सिद्ध है । अब हम उक्त अनादि मंत्र का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराकर श्रमण-संस्कृति पर प्रकाश डालेंगे । श्रमण संस्कृति के भी उल्लेख अन्य ग्रन्थों में वैसे ही मिलते हैं जैसे कि 'अरहंत' पद के मिलते हैं ।

णमोकार मंत्र का वास्तविक स्वरूप

आर्हत दर्शन में छह द्रव्य माने गये हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । स्थूल रीति से इन्हें जीव और अजीव इन दो भेदों में भी गर्भित कर सकते हैं । प्रत्येक द्रव्य स्वभावतः शुद्ध है । पर, जीव और पुद्गल वैभाविक परिणति से अशुद्ध परिणमन भी कर रहे हैं । जबतक अशुद्ध परिणमन रहता है जीव द्रव्य भी संसारी नाम पाता है-उसकी पूज्यता नहीं होती । शुद्धता प्राप्त करने के लिये जीव को कर्मों से पृथक् होना पड़ता है । जब यह जीव कर्मों से पृथक् होने का उपक्रम करके ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अंतराय कर्मों से अपने को पृथक् कर लेता है तब ये केवलज्ञानी और पूज्य हो जाता है और इसे अरहंत संज्ञा की प्राप्ति हो जाती है । अरहंत की निष्पत्ति 'अर्ह' धातु से होती है जिसका भाव पूजावाचक अर्थात् पूज्य होने से है ।

णमो अरहन्ताणं—लोक में अरहन्त के प्रचलित तीन रूप मिलते हैं यथा—णमो अरहंताणं, णमो अरिहंताण और णमो अरुहंताणं । अनेक विद्वानों ने इन पर विचार किया है और भिन्न भिन्न विचार भी प्रकट किये हैं—अरहंताणं पद 'अर्हः प्रशंसायां' सूत्र से शतृ प्रत्यय होने पर अर्हत बना । और 'उगिदचां नुम् सर्व स्थाने धातोः' से नुम् होने पर अर्हन्त् बना । 'स्वररहितं व्यंजनं नास्ति' नियम के अनुसार अरहंत बना । और पूज्य अर्थ में यही पद शुद्ध है । अन्य पदों का व्यवहार कालान्तर में शब्द-शास्त्र पर ऊहापोह होने के पश्चात् विभिन्न अर्थों के सन्निवेश में होने लगा । वास्तव में धातु के मूल अर्थ 'पूज्यता' की दृष्टि से णमो अरहंताणं ही ठीक है और ऐसा ही बोलना चाहिये । यद्यपि लोक में इस पद को अरिहंत रूप में उच्चारण करने की प्रथा [अरि-कर्मशत्रु को 'हन्त'-नाशकर्ता के भाव में] पड़ चली है और शब्दार्थ विचारने पर उचित सी आभासित होती है । पर जहां तक मूल और मंत्र की अनादि परम्परा की बात है—ऐसा अर्थ किन्ही प्राचीन ग्रन्थों में देखने में नहीं आता । सभी स्थानों पर 'अर्ह'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूजार्थक धातु से ही इसका संबंध जोड़ा गया है[1]। हिंसार्थक हन् धातु से नहीं जोड़ा गया। फिर आर्हत्-दर्शन तो 'अहिंसा परमोधर्मः' का परमपोषक है; साथ में परकर्तृत्व अभाव भी तो है। अरहंत परमेष्ठी कर्म का हनन न करके स्व को स्व में प्रकट करते हैं और कर्म स्वयं ही अकिंचित्कर हो जाते हैं और इसीसे अरहंत पूज्यपना प्राप्त करते हैं। अतः णमो अरहंताणं ही उपयुक्त जँचता है।

णमो सिद्धाणं—'सिद्ध' शब्द 'षिध्' धातु से बना है, जिसका अर्थ गति है। संप्रसारण में 'सिध्' धातु से निष्ठा सूत्र से क्त प्रत्यय हुआ और 'झलां जशोऽन्ते' 'झलां जशझशि' सूत्रों से त् को ध् व द् होकर सिद्ध पद बना। सिद्ध से तात्पर्य है जो आत्ममार्ग को सिद्ध कर चुके—संसार परिभ्रमण से सदा के लिये मुक्त हो गये। सिद्धों के स्वरूप का वर्णन शास्त्रों में इस प्रकार मिलता है—

'अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥'—नेमिचन्द्र चक्रवर्ती

जो अष्टविध कर्म से रहित, शान्त, निरंजन, नित्य, अष्टगुणसहित, कृतकृत्य और लोकाग्रवासी हैं वे सिद्ध हैं सिद्धभक्ति में लिखा है—

'असरीरा जीवघना उवजुत्ता दंसणेय णाणेय।
सायारमणायारा लक्खणमेयं तु सिद्धाणं॥'—सिद्धभक्ति[2]

कर्ममल और तज्जन्य पाँच शरीरों का अभाव होने से वे सिद्ध शरीर रहित हैं। स्वजीव द्रव्य में परमरूप होने से अन्य किसी पदार्थ द्वारा उत्पादित विकार भाव से समाविष्ट नहीं हैं और अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान से पूर्ण हैं। अन्तिम शरीराकार आत्मप्रदेश होने से साकार और वास्तव में निराकार [पुद्गल आदि अन्य द्रव्यों से भिन्नजातीय] हैं।

णमो आइरियाणं—आइरियाणं पद में 'आ' उपसर्ग है जो समन्तात् अथवा पूर्णतया अर्थ में आता है। 'आ' उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक 'चर' धातु से योग्य अर्थ में 'ण्यत्' प्रत्यय होकर 'आ + चर + य' बना। 'क् ग् च् त् द् य् व् वां प्रायो लुक्' से च का लोप हुआ 'यस्यरि' से 'रकार' को 'रिकार' हुआ। 'इ सप्तादौ' से अ को इ होने पर 'आइरिय' रूप बना। नमस्कारार्थ में 'आणं' चतुर्थी विभक्ति होने पर आइरियाणं बना। आचार्य [आइरिय] का अर्थ है—आचारण में चलाने योग्य, आचारशास्त्र के अधिकारी। इनके ३६ गुण होते हैं[3]—१२ तप, ६ आवश्यक, ५ आचार, १० धर्म, ३ गुप्ति।

---

१. स्वर्गावतरण जन्माभिषेक परिनिष्क्रमण केवलज्ञानोत्पत्ति परिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवसुरमानव-प्राप्तपूजाभ्योऽभ्यधिकत्वादतिशयानामर्हत्वाद योग्यत्वादरहन्तः।'— (धवला)

२. 'सम्मत्तणाण दंसण वीरिय सुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वाबाहं अट्ठगुणाहुंति सिद्धाणं॥'

१. द्वादशधा तपोभेदा आवश्यकाः परे हि षट्।
पंचाचारा दशधर्मास्तिस्रः शुद्धाश्च गुप्तयः॥
आचार्याणां गुणाः प्रोक्ताः षट्त्रिंशच्छिवदायकः॥ सो० त्रै० १२।४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णमो उवज्झायाणं—'उप' उपसर्ग समीप अर्थ का द्योतक है और 'इङ्' धातु अध्ययनार्थ है। इङ् धातु सदा 'अधि' उपसर्ग के साथ आती है। 'उप+अधि+इ' ऐसी स्थिति में 'घञ्' प्रत्यय हुआ और वृद्धि, दीर्घ, यण् और आय् होने पर 'उपाध्याय' बना। 'पोवः' सूत्र से पकार को वकार, 'ह्रस्वः संयोगे' से वकार को ह्रस्व होने पर 'उवध्याय' बना। 'ध्यस्यज्झः' सूत्र से 'ध्य' को 'ज्झः' आदेश होने पर 'उवज्झाय' बना और चतुर्थ्यन्त होने से ''उवज्झायाणं' बोलने में आया। उपाध्याय मुनि संघस्थ अन्य मुनियों को अध्यापन कराते हैं।

णमो लोए सव्वसाहूणं—'साध्नोति स्वार्थमनपेक्ष्य परकार्यमिति साधुः' अथवा 'साध्नोति निजस्य आत्मनः परेषां भव्यजन्तूनां मुक्तिरूपं कार्यमिति साधुः।' जो स्वार्थ की अपेक्षा न करके पर कार्य को सिद्ध करते हैं या निज आत्मा और अन्य भव्यजीवों के मुक्तिरूप कार्य को सिद्ध करते हैं वे साधु होते हैं। संस्कृत में सर्व शब्द समस्त अर्थ का बोधक होता है। प्राकृत में 'सर्वत्र लवरामचन्द्रे शेषाणां द्वित्वचानादौ' सूत्र से रकार का लोप और वकार को द्वित्व होने से 'सव्व' बन जाता है। सिद्धि अर्थ में 'साध' धातु से 'उण्' प्रत्यय होने पर 'साधु' रूप बनता है। साधु शब्द से लोक में अनेकों अर्थ ग्रहण किये जाने लगे हैं परन्तु वास्तव में यह शब्द श्रमण मुनियों के लिये ही है। 'र व द्य थ ध मां हः' सूत्र से धकार को हकार हो जाता है। सामान्यतः इस पद में आचार्य और उपाध्यायों का ग्रहण भी हो जाता है परन्तु उन दोनों पदों को विशेषापेक्षया पृथक् कहा गया है। स्नातक, निर्ग्रन्थ, पुलाक, बकुश और कुशील ये सभी भेद साधुओं के हैं और इन सब का ग्रहण करने के लिये प्रकृत मूल मंत्र में 'सव्व' पद का ग्रहण किया गया है। उक्त प्रकार मूलमंत्र का संक्षिप्त विवेचन है।

उक्त मंत्र आर्हत्-धर्म के दिग्दर्शन में मूलभूत है। इसके विशेष-विस्तृत अध्ययन से आर्हत्-धर्म के सिद्धान्तों पर पूर्ण प्रकाश पड़ सकता है। आत्मा-संबंधी समस्त गुणों, कर्तव्यों और चरमावस्था के दिग्दर्शन कराने में समर्थ होने से उक्त मंत्र आत्मेतर अन्य द्रव्यों के प्रकाश में भी समर्थ है। उपाध्याय परमेष्ठी के द्वार से जहां तत्त्वों की शिक्षा का बोध होता है, वहां सभी तत्त्वों का विवेचन भी गर्भित हो जाता है। एतावता मूलमंत्र आर्हत् धर्म का प्रतीक है, इसका मनन, चिन्तवन परमपद को दिलानेवाला है और इसी विचारधारा से प्रवाहित श्रमण-संस्कृति है। और मूलमंत्र की भाँति वह भी अनादि-निधन है।

'श्रमण' शब्द के विषय में लिखा है कि—'श्राम्यतीति श्रमणः तपस्यन्तीत्यर्थः।'—दशवैकालिक-सूत्र, अर्थात् जो श्रम करे वह श्रमण कहलाता है और श्रम का भाव है तपस्या करना। भारत में श्रमण परम्परा प्राचीनतम—वस्तुस्वरूप के साथ से चली आ रही है। इस परम्परा के दर्शन अनेकों रूपों से किये जा सकते हैं। यथा—

णामेण जहा समणो ठावणिए तह य दव्वभावेण।
णिक्खवो वीह तहा चदुव्विहो होइ णायव्वो॥

—आचार्य कुन्दकुन्द मूलाचार १०।११४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणों का अस्तित्व नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव चारों निक्षेपों की अपेक्षा को लिये हुए हैं। 'श्रमण' और 'मुनि' दोनों शब्दों की परस्पर में साम्यता है। जैसे 'श्रम' शब्द प्रकृत प्रसंग में आध्यात्मिकता से संबंधित है वैसे ही मुनि शब्द भी आध्यात्मिकता की ओर संकेत करता है। कहा भी है—'मान्यत्वादाप्त-विधानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः'—यशस्तिलक ८।४४। अर्थात् आप्तविद्या [आगम] में वृद्ध और मान्य होने से महान पुरुषों ने इसे मुनि संज्ञा दी है। 'मननात् मुनिः' ऐसा भी कहा जाता है अर्थात् जो तत्त्वों का—आत्मा का मनन करें वे मुनि हैं।

'श्रम' शब्द तीन रूपों में ग्रहण किया जाता है—श्रम, परिश्रम और आश्रम। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल कहते हैं—'एकतः श्रमः श्रमः।' 'परितः श्रमः परिश्रमः।' और 'आ समन्तात् श्रमः आश्रमः।' एक ओर अर्थात् शरीर से किया गया श्रम 'श्रम' कहलाता है। दो ओर अर्थात् शरीर और मन से किया गया श्रम 'परिश्रम' कहलाता है। और तीनों ओर से अर्थात् मन-वचन-काय से किया गया श्रम 'आश्रम' कहलाता है। उक्त प्रसंग से श्रमण और आश्रम की पारस्परिक घनिष्टता विदित होती है क्यों कि श्रमण मुनि मन-वचन-काय तीनों की एकरूपता पूर्वक ध्यान का अभ्यास करते हैं। वास्तव में श्रमणमुनियों के ही आश्रम अध्यात्म से सम्बन्ध रखते रहे हैं। शेष आश्रम तो श्रम और परिश्रम तक ही सीमित हैं। यही कारण है कि श्रमणधर्म को अन्य आश्रमों का जनक बतलाया गया।[1]

श्रमण परम्परा का उल्लेख प्राचीनतम ग्रन्थों में मिलता है। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्ति-सागर महाराज भी इसी श्रमण परम्परा के मुनि थे। उन्होंने इस युग में श्रमण धर्म को मूर्तरूप देने में प्राथमिक मंगल कार्य किया है। आज के श्रमणमुनि उन्हीं की परम्परा से उद्बुद्ध हुए हैं; जो आर्हत् धर्म और श्रमण संस्कृति के साक्षात्-प्रतीक रूप हैं। 'ठाणाङ्ग सुत्त' में श्रमण मुनियों की अनेक वृत्तियों का वर्णन है। वहाँ लिखा है श्रमणमुनियों की वृत्ति उरग, गिरि, ज्वलन, सागर, आकाशतल, तरुगण, भ्रमर, मृग, धरणी, जलरुह, रवि और पवन सम होती है।[2] इसका विस्तृत व्याख्यान फिर कभी किया जायगा, लेख विस्तृत होने के कारण यहाँ संकोच ही श्रेष्ठ है।

'श्रमण' शब्द का अस्तित्व वेद-पुराण-व्याकरण-उपनिषद्-भागवत आदि अनेक ग्रन्थों में पाया जाता है। इतना ही नहीं इस शब्द का प्रयोग भिन्न भिन्न भाषाओं में भी हुआ है। श्रमण-संस्कृति प्राचीन भारत में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक व्याप्त थी यह तो निर्विवाद सिद्ध है और ऐसे भी प्रमाण मिले हैं कि इस श्रमण धर्म के शास्ता तीर्थंकर तिब्बत तक भी गए हैं, अंग, वंग, कलिंग आदि तो

---

१. 'श्रमण परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म में वानप्रस्थ और सन्यास को प्रश्रय मिला।'—
—वासुदेवशरण अग्रवाल [जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका से उद्धृत] पृ. १३

२. 'उरग-गिरि-जलन-सागर, नहतल तरुगण समो अजो होइ।
भमर मिय धरणिजलरुह रवि पवणसमो अ सो समणो॥'—ठाणांग सुत्त ५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस देश के अंग हैं ही। भारत का प्रचलित नामकरण भी इसी संस्कृति के अनुयायी चक्रवर्ती भरत से हुआ इस प्रकार श्रमण-संस्कृति का महत्ता बहुत बढ़ी चढ़ी और आदर्श रही है।

[कुछ भाषाओं में श्रमण शब्द के रूप]

१.	प्राकृत भाषा में	'समण'
२.	मागधी	'शमण'
३.	संस्कृत	'श्रमण' ['कुमारः श्रमणादिभिः'[1] पाणिनि २।१।७०]
४.	अपभ्रंश	'सवणु'
५.	कन्नड	'श्रवण'
६.	यूनानी	'सरमनाई'
७.	चीनी	'श्रमणेरस'
८.	तमिल	'अमण'

[कुछ ग्रन्थों में श्रमण शब्द]

१. 'तृदिला अतृदिलासो अद्रयो **श्रमणा** अशृथिता अमृत्यवः।'—ऋग्वेद १०।९४।११

२. 'यत्र लोका न लोकाः.....**श्रमणो** न श्रमणस्तापसो.....।'—ब्रह्मोपनिषद्

३. 'वातरशना[2] ह वा ऋषयः....**श्रमणा** ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः।'—तैत्तिरीयोपनिषद्, आरण्यक २।७

४. '**श्रमणोऽ**श्रमणस्तापतोऽतापसो.....।' —बृहदारण्यक ४।३।२२

५. '**श्रमण**ः परिवाट्-यत्कर्मनिमित्तो भवति स.....।' —शांकरभाष्य

६. 'वातरशना ह वा ऋषयः **श्रमणा**.....।' —तैत्तिरीय आरण्यक २, प्र० ७, अनु० १-२

७. 'वातरशनाख्या ऋषयः **श्रमणास्त**पस्विनः..... ।'—सायण टीका

८. 'आत्मारामाः समदृशः प्रायशः **श्रमणा** जनाः।'—श्रीमद्भागवत १२।३।१८-१९

९. 'वातरशनानां **श्रमणा**नामृषीणामूर्ध्वमंथिनाम् .....।'—श्रीमद्भागवत ५।३।२०

इस प्रकार श्रमण संस्कृति और आर्हत्-धर्म प्राचीनतम सिद्ध होते हैं। यह संस्कृति हिमालय में भी व्याप्त रही। युग के आदि मनु नाभि और आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का इस प्रदेश से भी घनिष्ट संबंध रहा ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। हिन्दू ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में लिखा है—नाभि मनु और रानी मरुदेवी ने यहीं से कल्याणपद [तपस्या द्वारा] प्राप्त किया। तथाहि

---

१. 'कुमार : श्रमणादिना'—शब्दार्णवचंद्रिका; 'कुमारः श्रमणादिभिः'—जैनेन्द्र व्याकरण १।३।६५

२. वातरशना य ऋषयः **श्रमणा** ऊर्ध्वमन्थिनः। —श्रीमद्भागवत ११।६।४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'विदितानुरागमापौर प्रकृति जनपदो राजा**नाभि**रात्मजं समयसेतु रक्षायामभिषिच्य·····सह**मरुदेव्या** विशालायां[1] प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन·····महिमानमवाप ।'—श्रीमद्भागवत ५।४।५

गतवर्ष जब हमने हिमालय में विहार किया तब भी ऐसे बहुत से तथ्य समक्ष आए जिनसे इस प्रदेश में श्रमण-संस्कृति की पुष्टि मिली। श्रीनगर-गढवाल में जैन-संस्कृति की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि हुई। और ऐसा भी विदित हुआ कि इस प्रदेश क धनुपुर पट्टी आदि स्थानों पर जैनों और श्रमण-संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव रहा। खोज की आवश्यकता है।

---

१. 'विशालायां बदरिकाश्रमे।'—श्रीधर टीका, काशी
'विशाल फलदा प्रोक्ता विशाला।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org